3 चर्मकार

जिन्होंने चर्मशोधन विज्ञान और चमड़ा उद्योग को विकसित किया

जब मनुष्यों ने व्यवस्थित रूप से जीना शुरू किया, तब पशु-पक्षी भी उनके जीवन का हिस्सा बन गए। जिस तरह मनुष्य जन्म लेते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं, ठीक उसी तरह जानवर भी पैदा होते हैं, बड़े होते हैं और मर जाते हैं। जहाँ मनुष्य के मरने के बाद उसकी पतली चमड़ी का कोई उपयोग नहीं होता, वहीं जानवरों की मोटी खाल के कई उपयोग होते हैं। हज़ारों सालों के दौरान मनुष्यों ने जानवरों की खाल और चमड़ी को कई उपयोगी चर्मोत्पादों में बदलना सीख लिया है। जानवर की पकाई गई खाल को ही चमड़ा कहा जाता है। पशुओं की खाल को साफ करके और पकाकर सुरक्षित करने की प्रक्रिया को "चर्मशोधन" कहते हैं। चर्मशोधन मनुष्यों को ज्ञात सबसे पुरानी कारीगरी है।

पहले अध्याय में हमने देखा कि किस तरह आदिवासियों के पूर्वजों ने जानवरों का शिकार किया और यह तय किया कि कौन-सा मांस मनुष्यों के खाने योग्य था। आहार के उपार्जन को किफायती बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि उसके सभी सम्भव सह-उत्पादों का उपयोग किया जाए। धीरे-धीरे मनुष्यों ने शिकार किए गए जानवरों की खालों को इस्तेमाल करने के तरीके खोज लिए। शोधित खालों का इस्तेमाल इन्सान के पैरों की रक्षा के लिए, कृषि उपकरणों को चमकाने, गुलेल बनाने, और लोगों को सर्दियों में गर्म रखने व गर्मियों में शीतल रखने के लिए किया जाने लगा। अन्य शिल्प, जैसे कुम्हारी, लुहारी, कताई और बुनाई, काफी बाद में विकसित हुए।

भारतीय उपमहाद्वीप में स्थापित होने वाला सबसे पहला उद्योग चमड़ा उद्योग ही था। मूल्यहीन प्रतीत होने वाली वस्तु को सबके द्वारा उपयोग की जा सकने वाली वस्तु में रूपान्तरित कर देना ही किसी भी उद्योग का काम है।

चर्मकार्य का विज्ञान

चमड़ा कैसे बनता है? सर्वप्रथम, मरे हुए जानवरों – गाय, भैंस, सुअर, बकरी, भेड़, ऊँट – की खालों को उतारा जाता है। इसके बाद, इनकी लाशों को दफन करना ज़रूरी होता है ताकि गाँवों, कस्बों और नगरों को हैज़ा, दस्त जैसी जानलेवा बीमारियों और दूसरी महामारियों से बचाया जा सके।

खाल को छेदे बगैर उतारने के लिए निपुणता ज़रूरी है। चाकू के सटीक इस्तेमाल के लिए हाथों और आँखों का अच्छा तालमेल ज़रूरी होता है। इस काम को करते-करते चर्मकारों को जानवरों की शरीर-रचना का अच्छा-खासा ज्ञान भी हासिल हो गया। इस तकनीक को तराशा गया और आगे की पीढ़ियाँ इसे सीखती गईं। यह शिक्षा सैद्धान्तिक भी थी और व्यावहारिक भी। चर्मकार्य में शामिल समुदायों को देश के विभिन्न हिस्सों में अलग-अलग नामों से जाना जाता है – आन्ध्र प्रदेश में मडिगा, तमिलनाडु में अरुन्धतियर तथा उत्तर प्रदेश, पंजाब और कई मध्य उत्तर-भारतीय राज्यों में चमार या चम्बर।

गीली चमड़ी को सड़ने से बचाने के लिए नमक का इस्तेमाल करने का तरीका कई सदियों पहले मडिगाओं/चमारों द्वारा खोजा गया था। आज भी "क्योरिंग" कही जाने वाली इस प्रक्रिया का गाँवों में स्थित मडिगाओं/चमारों की बस्तियों में उपयोग किया जाता है। चमड़ियों और खालों को आधुनिक चर्मशोधन उद्योगों में पहुँचाने से पहले नमक द्वारा संसाधित किया जाता है। जहाँ आजकल के औद्योगिक चर्मशोधनालय कई ऐसे रसायनों का इस्तेमाल करते हैं जो भीषण प्रदूषण फैलाते हैं, वहीं चर्मकारों की कार्यशालाओं में होने वाली चर्मशोधन प्रक्रियाएँ काफी हद तक पर्यावरण के अनुकूल होती हैं।

आन्ध्र प्रदेश के मडिगाओं द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली तंगेडु पेड़ की छाल को मराठी और हिन्दी में तरवर, तमिल में आवारम और कन्नड़ में अवरिक्के कहा जाता है। इसका प्रचलित व्यापारिक नाम टैनर्स कैसिया है और वानस्पतिक नाम कैसिया ऑरिकुलैटा है।

नमक लगी खाल को *तंगेडु* के पेड़ (*कैसिया ऑरीकुलैटा*) की छाल से बने चूर्ण के घोल में डुबोया जाता है। भारतीय चर्मकारों ने खोज निकाला कि *तंगेडु* के पौधे में पाए जाने वाले "टैनिन" (या टैनिक अम्ल) का प्रयोग कच्ची खालों को चमड़े में बदलने के लिए किया जा सकता है। यह प्रक्रिया लगभग पन्द्रह दिनों तक चलती है। चर्मकार प्रतिदिन इस पानी को चखकर खटास का पता लगाते हैं। हर गुज़रते दिन के साथ यह खाल *तंगेडु* के पानी का कुछ रसायन सोखती जाती है, फैलने लगती है और कड़कपन के साथ चमड़े में तब्दील होना शुरू हो जाती है। इसके बाद इस संसाधित खाल को चूने के पानी से भरे टब में रखा जाता है। एक हफ्ते बाद यह खाल चमड़े में तब्दील हो जाती है। फिर इस चमड़े को बहते पानी या तालाब में धोकर साफ किया जाता है। इन चार चरणों से – क्योरिंग, *तंगेडु* के पानी में संसाधित किया जाना, चूने के पानी में डुबोकर रखना, और धोना – त्वचा और खालों को चमड़े में बदलने की प्राकृतिक प्रक्रिया बनती है। अपने उत्पाद को अन्तिम रूप देने के लिए, मडिगा चर्मकार *करुक्काया* नामक फल के सूखे और चूरा किए गए रेशे का प्रयोग करते हैं। इस रेशे को अरण्डी के तेल में उबाला जाता है। ठण्डा होने पर इस घोल को व्यवस्थित रूप से चमड़े पर लगाया जाता है ताकि उसे चमकदार और चिकना बनाया जा सके।

इसके बाद चर्मकार बहुत कुशलता के साथ इस चमड़े को जूते, सैंडिल, रस्सी, बैग और बैल्ट, तथा वाद्ययंत्रों, जैसे ढफली, तबला या मृदंग, में भी रूपान्तरित कर देते हैं। चमड़े के जूते-चप्पलों ने न केवल मनुष्यों के पैरों की रक्षा की बल्कि उन्हें भूमि जोतने में सक्षम भी बनाया। इससे मनुष्यों को प्रकृति के साथ उनके संघर्ष में मदद मिली। जूते, सैंडिल पहनकर ही मनुष्यों ने जंगल साफ किए। चमड़े की रस्सियों की सहायता से हमारे किसानों ने बंजर ज़मीनों को उपजाऊ बनाया। अतः चमड़ा उद्योग ऐसा मूल उद्योग है जिसने दूसरे कई उद्योगों को पैदा किया।

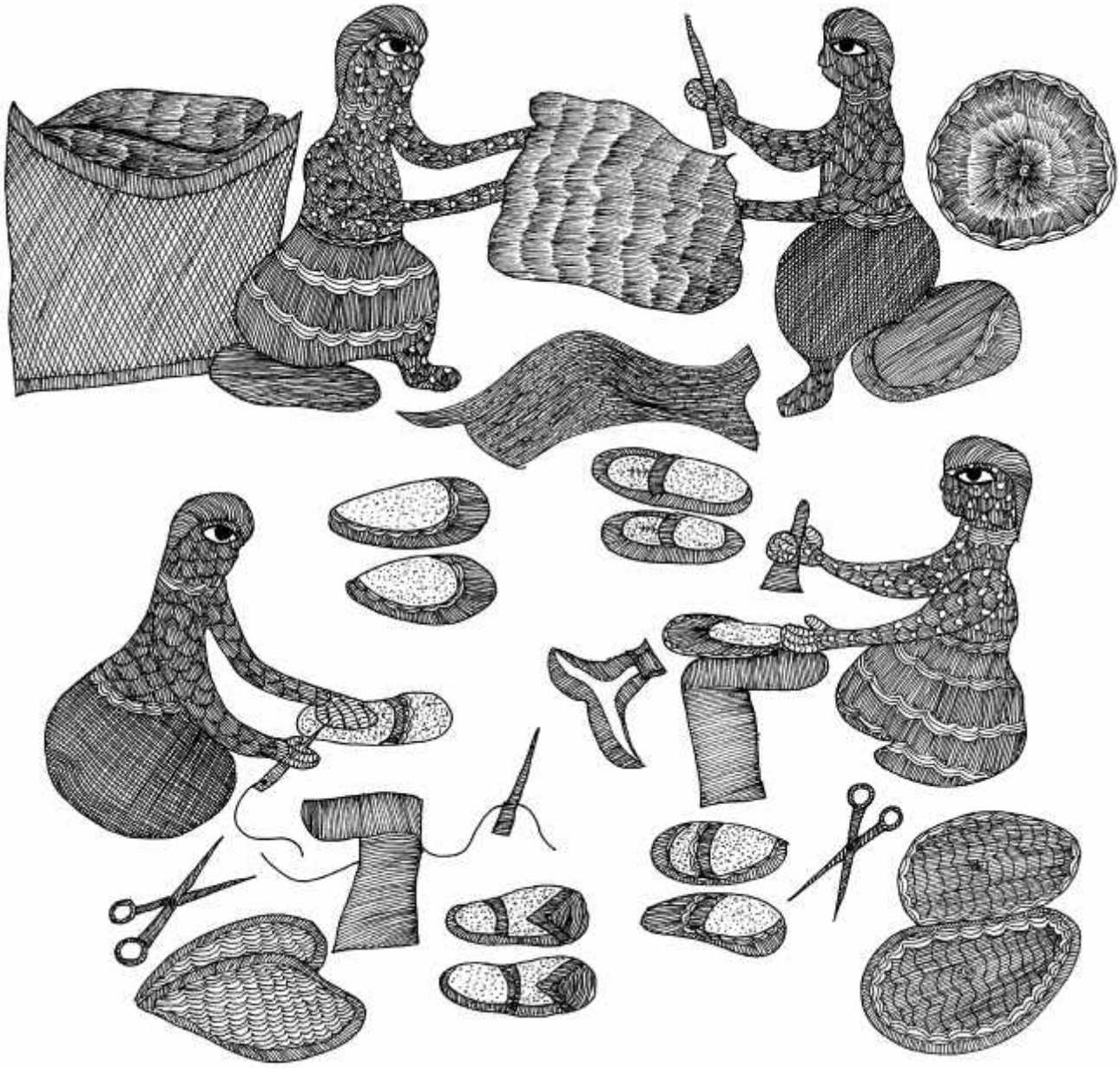

सामाजिक दर्जा

यदि हम विज्ञान को परखे जा सकने वाले उपायों – अवलोकन, पहचानना, वर्णन, प्रयोगात्मक खोज और प्राकृतिक घटनाओं की सैद्धान्तिक व्याख्या – द्वारा हासिल किया गया ज्ञान या सीखा गया कौशल मानते हैं, तब जो मडिगाओं/चमारों ने हासिल किया वह निश्चित ही विज्ञान था। उनकी इस उपलब्धि की व्यापक सामाजिक उपयोगिता थी। दूसरी ओर, धार्मिक ग्रन्थों में पाए जाने वाले मंत्रों, स्तुतियों और पावन भजनों का सम्बन्ध अलौकिक घटनाओं से था। इनका विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं था। वस्तुतः इनसे किसी प्रकार का कोई उत्पादन नहीं होता था। फिर भी, इन धार्मिक ग्रन्थों के पास यह निर्णय करने की शक्ति थी कि चर्मकार अछूत थे। दूसरे समाजों में चर्मकारों ने अपने संघ बनाए और उन्नति की। उन्हें कभी अछूत नहीं माना गया।

संसार भर में चर्मशोधन और चमड़ा उद्योग से जुड़े लोगों का विज्ञान के जनकों के तौर पर आदर किया जाता था। फ्लेमिश समुदाय के पुनर्जागरण कालीन चित्रकार पीटर पॉल रुबेन्स (1577-1640) जूतों के निपुण कारीगर थे और विभिन्न दरबारों में उनका बहुत आदर के साथ स्वागत किया जाता था। आज, मैनोलो ब्लैह्निक, जिमी चू और क्रिश्चियन लूबूटिन मशहूर मोची हैं जो 750 डॉलर प्रति जोड़ी से भी ज़्यादा कीमत वाले अपने डिज़ाइनर जूतों के लिए जाने जाते हैं।

भारत में लोगों को जन्म और कर्म के आधार पर बाँटने वाली जाति व्यवस्था की वजह से इस काम में शामिल लोगों को "अछूत" कहा गया और उन्हें मुख्य गाँव से दूर रहने के लिए मजबूर किया गया। इसी तरह यह भी एक विडम्बना है कि वातावरण को स्वच्छ रखने का काम करने

वाले लोगों को गन्दा माना गया। इन कुशल लोगों को – जो अब अपने आत्मसम्मान की खातिर खुद के लिए "दलित" शब्द का प्रयोग करते हैं – अज्ञानी माना गया जिनकी धर्म जगत में कोई जगह नहीं थी। उन्हें इन कामों को उनका सामाजिक कर्तव्य मानकर करने के लिए मजबूर किया जाता रहा। फिर भी, न तो उन्हें उचित सम्मान दिया गया और न ही इन कामों के लिए सही वेतन। यहाँ तक कि जब वे लोग यह काम छोड़ना चाहते थे तो उन्हें ऐसा नहीं करने दिया गया। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर जैसे नेता की सलाह मानते हुए चर्मकारों ने समानता प्राप्त करने के लिए प्रयास शुरू किए। वे दूसरे व्यवसायों की ओर भी जाने लगे। उनमें से कई अपने पारम्परिक काम छोड़कर खेतिहर मज़दूर बन गए। पर वे आज भी तिरस्कार सहते हैं।

सामाजिक अनुक्रम में सबसे निचले स्थान पर रखकर चर्मकारों को सामाजिक आदर से तथा शिक्षा जैसे संसाधनों से वंचित रखा गया और उन्हें गाँवों की साझा ज़मीन और पानी का कभी उपयोग नहीं करने दिया गया। आर्थिक रूप से भी उनकी उन्नति नहीं होने दी गई। ऐसे काम को हेय दृष्टि से देखे जाने के कारण भारतीय उपमहाद्वीप में वैज्ञानिक प्रवृत्ति और औद्योगिक विकास को क्षति उठाना पड़ी। ऐसे जानकार समुदायों की उपेक्षा ही भारत के पिछड़ेपन का कारण है।

स्वास्थ्य कर्मचारी

मनुष्यों का स्वच्छ और स्वस्थ वातावरण में रहना ज़रूरी है। अन्यथा हम बीमारियों से पीड़ित हो जाएँगे। चर्मकार्य के अलावा, दलितों के कुछ वर्गों को गाँवों और कस्बों में सफाई कार्य करने के लिए मजबूर किया गया जिसकी उन्हें भारी शारीरिक और मानसिक कीमत चुकानी पड़ी। सदियों तक दलितों ने हमारी सड़कों पर झाड़ू लगाई और गाँवों की सफाई की। उनके काम का आदर करने और उनको बेहतर वेतन देने की बजाय समाज ने अकुशल कहकर उनकी निन्दा की। स्वच्छता

और जीवन के लिए ज़रूरी स्वास्थ्यकर परिवेश के प्रति इस तरह की नकारात्मक सोच का ही नतीजा है कि भारत में शारीरिक स्वच्छता आज भी एक मुद्दा बनी हुई है। हम यह मानकर लापरवाही से कूड़ा-करकट और गन्दगी फेंक देते हैं कि दूसरे उसे साफ कर देंगे। स्वच्छता के प्रति ऐसे रवैए के कारण भारतीय लोग अक्सर गन्दे समझे जाते हैं।

सड़क झाड़ने के कार्य का अनादर करने की बजाय लड़के-लड़कियों को अपने घरों की झाड़ा-बुहारी करना और अपने पर्यावरण को स्वच्छ रखना सीखना चाहिए। साथ ही साथ हमें मनुष्यों द्वारा हाथ से की जाने वाली मैले की सफाई के काम के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए और चर्मकारों की काम करने की स्थितियों को सुधारना चाहिए। दलित भारत में विज्ञान और उद्योगों की शुरुआत करने वाले लोग हैं, और सदियों से बुनियादी तकनीक के साथ उनका सहज नाता रहा है। अतः वे वर्तमान समाज के हर क्षेत्र में श्रेष्ठता की आकांक्षा करने योग्य हैं। वे शिक्षक, अधिकारी, वैज्ञानिक, चिकित्सक, पुरोहित, प्रबन्धक, राजनेता और इंजीनियर भी बन सकते हैं।

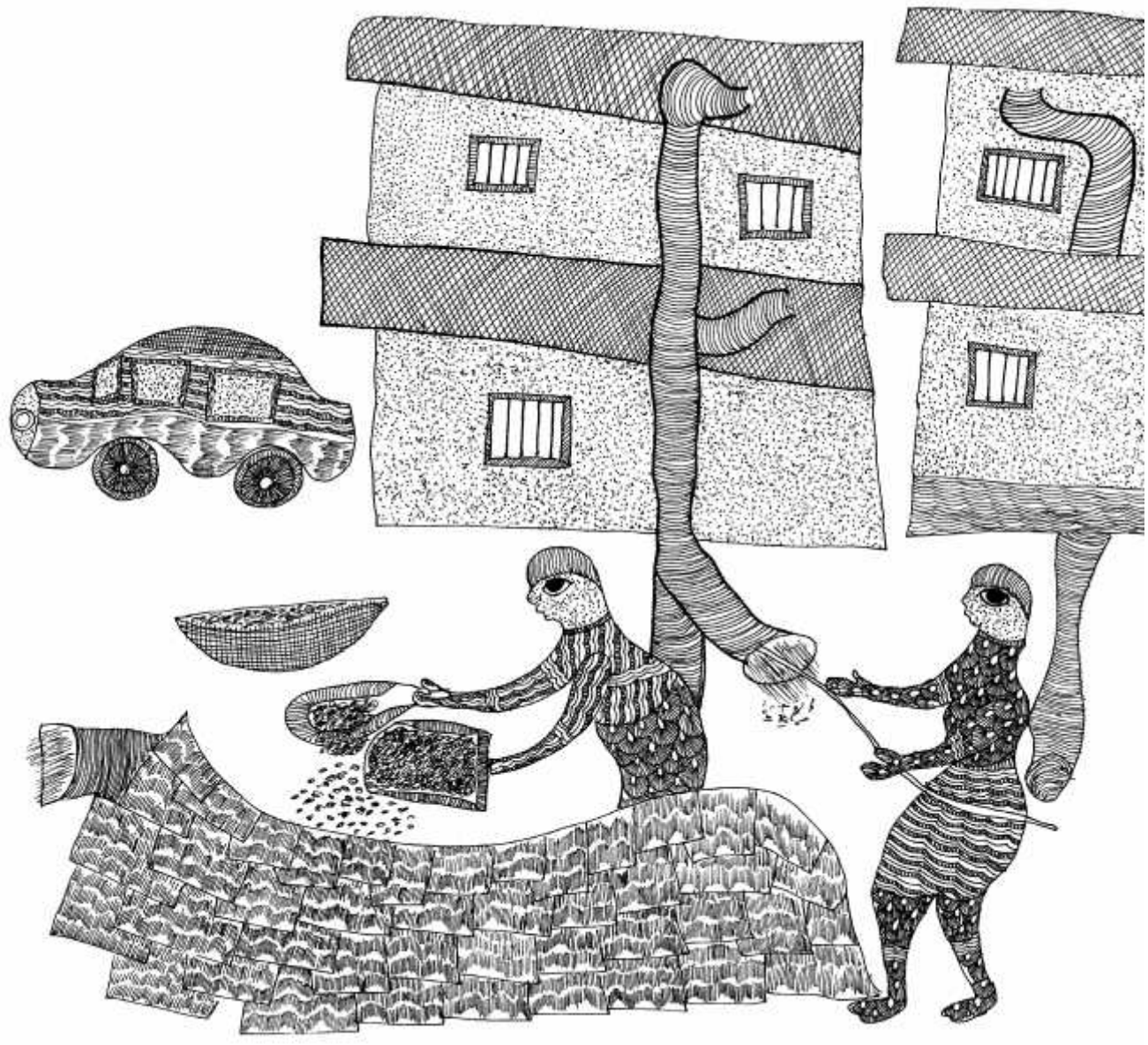

रोम में...

रोमन सम्राट डायोक्लेशियन द्वारा जारी किए गए फरमान (303 ई.) के ज़रिए कई प्रकार के सामानों और सेवाओं के उच्चतम मूल्य तय किए गए, जिनमें बकरी, भेड़, मेमने, लकड़बग्घे, हिरण, जंगली भेड़, भेड़िए, चितराल, ऊदबिलाव, भालू, सियार, सील मछली, तेन्दुए और शेर की खालें और उनसे बना चमड़ा शामिल थे। इस फरमान के अन्तर्गत, गाय की खालों का तो समूहों और गुणों के आधार पर वर्गीकरण भी किया गया था।

इसी दौरान, भारत में...

"परम्परागत रूप से जाति बहिष्कृत माने गए लोगों को अपनी गुज़र-बसर घोड़ों और रथों के रखरखाव, चिकित्सकीय उपचार, बढ़ईगिरी, मछली मारने, पशुवध करने, चमड़े का काम करने, ढोल बजाने आदि कामों द्वारा करना चाहिए। इन जातियों को टीलों, पेड़ों और शमशान के पास, पहाड़ों तथा जंगलों में रहना चाहिए। अछूत गाँव के बाहर रहें, फेंके हुए कटोरों का प्रयोग करें, और टूटे हुए बरतनों में भोजन करें। कुत्ते और बन्दर इनकी सम्पत्ति हों।"

पद 46-50, अध्याय 10, *मनुस्मृति,* पहली सदी ईसवी में लिखा गया एक संस्कृत ग्रन्थ

क्या आप जानते हैं?

आन्ध्र प्रदेश के एक छोटे-से गाँव निम्मलकुण्टा में चमड़े के गुड्डे-गुड़िया बनाने की पुश्तैनी कला का काम होता है। एक समय, गाँवों और छोटे कस्बों में गुड्डे-गुड़ियों के तमाशे मनोरंजन का प्रमुख साधन हुआ करते थे। आज टेलिविज़न और सिनेमा ने इनकी जगह ले ली है। इसलिए, चमड़े के गुड्डे-गुड़ियों के कारीगर चमड़े से अन्य उपयोगी वस्तुएँ, जैसे सुन्दर लैम्पशेड और खिलौने बना रहे हैं।

जानिए और करिए!

जानवर की खाल को चमड़े में बदलने की प्राकृतिक प्रक्रिया के चार चरणों को दर्शाता हुआ फ्लो चार्ट बनाएँ।

हाथ से की जाने वाली मैले की सफाई बन्द हो

2005 तक के आँकड़ों के हिसाब से भारत में 13 लाख सफाई कर्मचारी हैं जो 96 लाख सूखे शौचालयों में काम करते हैं। हर रोज़ उन्हें अपने हाथों से पाखाने को ठिकाने लगाने के लिए मजबूर होना पड़ता है। भारत में ऐसी शर्मनाक व्यवस्था बने रहने के लिए हमारी उदासीनता और मौन ज़िम्मेदार है। संविधान द्वारा 1993 में प्रतिबन्धित किए जाने के बावजूद राज्य के सक्रिय समर्थन के चलते मनुष्यों द्वारा हाथ से मैला साफ किए जाने की यह व्यवस्था अभी भी जारी है। अकेले आन्ध्र प्रदेश में ही दो लाख सूखे शौचालय हैं। देश में आज भी कई सैनिक छावनियों में सूखे शौचालय ही उपयोग में लाए जा रहे हैं। भारत के हर रेलवे स्टेशन पर भी यह चलन जारी है। अतः जब गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकी हुई हो तो कभी शौचालय का प्रयोग न करें। स्कूल जाने वाले हर बच्चे को चाहिए कि वह सम्बन्धित मुख्यमंत्री, राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, समाज-कल्याण मंत्री और रेलमंत्री को पत्र लिखकर इस चलन को प्रभावी तौर पर प्रतिबन्धित करने की माँग करे। मनुष्यों द्वारा हाथ से मैला साफ किए जाने के अमानवीय चलन के खिलाफ अपना विरोध दर्ज कराने के अन्य तरीकों पर विचार कर उन्हें सामने रखें।

कचरे की गाड़ी में सफर करें

उस कचरे का क्या होता है जो आप रोज़ कूड़ेदान में फेंकते हैं? कितने लोग प्राकृतिक तरीके से सड़ने वाले कचरे और न सड़ने वाले कचरे को अलग करते हैं? यह कचरा कहाँ जाता है? कौन लोग हैं जो इसे हमारे घरों, स्कूलों और दफ्तरों से ले जाते हैं? कुछ दोस्तों को इकट्ठा करें और अपने मोहल्ले या गली के सारे घरों से कचरा एकत्रित करके उसे कचरे के ढेर तक पहुँचाएँ, जहाँ से नगरपालिका की गाड़ी उसे ले जाती है। सफाई कर्मचारियों के साथ जाने की कोशिश करें और देखें कि यह सारा कचरा आखिर जाता कहाँ है। क्या आपको लगता है कि हमारे कस्बों और गाँवों में कचरा ठिकाने लगाने की प्रक्रिया वैज्ञानिक दृष्टि से सही और स्वास्थ्यकर है? अपने अनुभव और इकट्ठी की गई जानकारी पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखें।

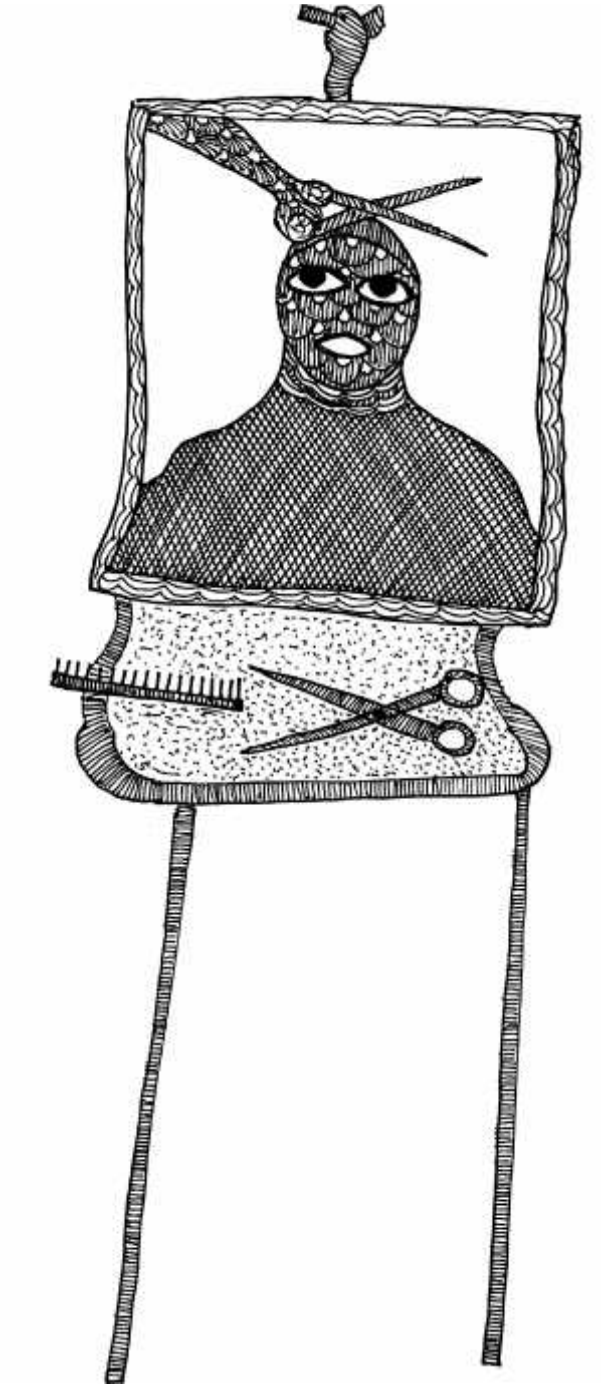

४ नाई

हमारे पहले चिकित्सक, जिन्होंने बाल काटने के लिए और आधुनिक काल
के पहले शल्यक्रिया के लिए उस्तरों का उपयोग किया

स्वास्थ्य के सबसे बुनियादी पहलू हैं – हम कैसा खाना खाते हैं और किस तरह अपने शरीर की देखभाल करते हैं। चूँकि भारत में अधिकांशतः उष्ण कटिबन्धी जलवायु है, अतः बुनियादी स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए और साफ-सुथरा दिखने के लिए नित्य स्नान करना आवश्यक है। इसके अलावा मानव शरीर के बाल और नाखून भी बढ़ते रहते हैं जिन्हें नियमित रूप से करीने से काटना ज़रूरी है। हमारे स्वास्थ्य के लिए यह भी आवश्यक है।

चिकित्सा विज्ञानों के इतिहास में बालों की कटाई का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे सिर और शरीर के अन्य हिस्सों पर उगने वाले बालों को काटने के लिए कुशलता की, और धारदार उस्तरे तथा कैंची जैसे बारीक औज़ारों की ज़रूरत होती है। कई समाजों में नाइयों ने अपने काम के अलावा विश्व के पहले चिकित्सकों और शल्यकर्मियों की दोहरी भूमिका भी निभाई। पाषाण युग में नेआंडरथल मानवों ने अपने शरीर से बालों को खींचकर निकालना शुरू कर दिया। तटीय क्षेत्रों में सीपियों को चिमटी की तरह इस्तेमाल किया जाता था। त्वचा को मुलायम बनाने के लिए झाँवा पत्थरों का प्रयोग किया जाता था। धारदार चकमक पत्थरों का इस्तेमाल ईसवी युग के 30,000 साल पहले ही शुरू हो चुका था। ये तरीके निश्चित ही अपरिष्कृत और आदिम थे। बाल काटने की वैज्ञानिक प्रक्रिया तो नाइयों ने ही विकसित की।

अपरिष्कृत औज़ारों, जैसे झाँवा पत्थरों और सीपियों के बाद काँसे, ताम्बे और लोहे के उस्तरे विकसित हुए। गाँवों में आज भी नाइयों द्वारा मोड़कर रखा जा सकने वाला तेज़ धारदार उस्तरा इस्तेमाल किया जाता है। सैकड़ों सालों तक उस्तरे चाकू की शक्ल में ढाले जाते थे। नाई इन्हें सिल्ली या चमड़े की पट्टी की मदद से धारदार बनाते थे। (चमड़े की यह पट्टी उन चर्मकारों द्वारा बनाई जाती थी जिनसे हम अध्याय 3 में मिले थे।) इन औज़ारों को इस्तेमाल करने के लिए बहुत कुशलता और एकाग्रता की ज़रूरत होती थी। सदियाँ गुज़रने के साथ-साथ बाल काटने की इस कला और विज्ञान का कई गुना विकास हुआ है।

भारतीय उपमहाद्वीप में व्यवस्थित ढंग से बाल काटने का लम्बा इतिहास है। कुछ इतिहासकार मानते हैं कि हजामत बनाने वाले पहले लोग ई.पू. पाँचवीं सदी के मिस्र निवासी थे। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रथा भारत में काफी पहले विकसित हो गई थी। सिन्धु घाटी कालीन (3000 से 1700 ई.पू.) चूना

पत्थर से निर्मित "दाढ़ी वाले पुरुष" की प्रतिमा में जिस पुरुष का चित्रण है उसकी दाढ़ी अच्छी तरह से छँटी हुई है। यह दर्शाता है कि उस समय बाल काटने के लिए धारदार उपकरणों के उपयोग की कला निश्चित ही अस्तित्व में रही होगी। जब मिस्रवासी बाल साफ करने के लिए रोमनाशक क्रीमों और झाँवा पत्थरों का उपयोग कर रहे थे, वहीं ई.पू. सातवीं सदी आते-आते भारत में जैनों ने बारीक औज़ारों का प्रयोग करके सिर मूँडना और चेहरे की हजामत करना शुरू कर दिया था। ऐसा माना जाता है कि कुछ जैन लोग बालों की एक-एक लट को नोंचकर भी उखाड़ दिया करते थे।

बाद में गौतम बुद्ध (छठी शताब्दी ई.पू.) और उनके भिक्षु-संघ ने दाढ़ी और सिर मुँडवाए हुए रूप को अपनाया और प्रोत्साहित किया। बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में से एक, उपालि, व्यवसाय और जाति से नाई थे। इससे पता चलता है कि तब तक नाइयों की एक अलग व्यावसायिक पहचान बन चुकी थी। वास्तव में उपालि बुद्ध की हजामत बनाने के लिए ही उनसे मिले थे। लगभग इसी समय भारत में साधु-सन्त और भिक्षुक सन्यासी लम्बे, उलझे हुए बाल रखते थे जिनमें खूब जुएँ और जटाएँ होती थीं। ये लोग नाइयों को गन्दा और "नीची" जाति वाला मानते थे और उनके द्वारा छुआ जाना इन लोगों को मंज़ूर नहीं था। गौतम बुद्ध ऐसे "साधु-सन्तों" के आलोचक थे और उन्होंने चेहरे की हजामत बनवाने को स्वच्छता और स्वास्थ्य के लक्षण के रूप में अपनाया। इसलिए बौद्ध संघ में सभी भिक्षुओं का चेहरा हजामत किया हुआ रहता था और कभी-कभी उनके सिर भी मुँडे रहते थे। पारम्परिक मूर्तियों और चित्रों में बुद्ध को सिर पर *उष्निशा* कहलाने वाली बालों की एक गाँठ के साथ चित्रित किया जाता है, पर उनका चेहरा हमेशा हजामत किया हुआ दर्शाया जाता है।

उपालि के समय से काफी पहले ही भारत के नाइयों ने बाल काटने और चेहरे के बाल साफ करने के काम में दक्षता हासिल कर ली थी। बुद्ध ने स्वयं भी उपालि से हजामत बनाना सीखा। नाई बौद्ध

धर्म संघ के महत्वपूर्ण सदस्य बने। यहाँ तक कि संघ में अनुशासन और सुव्यवस्था बनाए रखने का उत्तरदायित्व उपालि पर ही था। इस प्रकार बौद्ध धर्म ने नाइयों की महत्ता को पहचाना।

पहले शल्यकर्मी

नाई भारत के सबसे पहले पेशेवर चिकित्सक और शल्यकर्मी भी थे। आधुनिक युग के पहले नाइयों के अलावा किसी भी अन्य जाति के लोग बीमारियों से पीड़ित लोगों को नहीं छूते थे। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अस्तित्व में आने तक नाई ही कई छोटी-मोटी शल्यक्रियाएँ करते थे। उस्तरा चलाने में अपनी विशेषज्ञता के कारण वे रणभूमि में लगी चोटों का उपचार करते थे। वास्तव में शल्य चिकित्सा और बाल काटने के व्यवसाय में सहज सम्बन्ध है। शरीर के उस हिस्से पर जहाँ शल्यचिकित्सा होना होती है, बालों की उपस्थिति के कारण संक्रमण हो सकता है। इसलिए शल्यक्रिया से पहले बालों को पूरी तरह साफ करना अनिवार्य होता है। यह चलन आज भी जारी है। अतः नाई भारतीय समाज के सबसे पहले चिकित्सक कहे जा सकते हैं। तमिलनाडु में आज भी नाई को *मरुत्तुवर* कहा जाता है जिसका अर्थ होता है – चिकित्सक। देश के कुछ भागों में तो नाई विवाह और मृत्यु से सम्बन्धित कर्मकाण्डों और रस्मों का संचालन भी करते हैं। कई तरह की महत्वपूर्ण सेवाओं का निष्पादन करने के बावजूद भारत में नाइयों को अन्य लोगों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। उन्हें सामाजिक और धार्मिक जीवन में अनादर झेलना पड़ा है। इतने कुशल लोगों के साथ इस तरह का व्यवहार नकारात्मक मानसिकता का परिणाम है।

एक लम्बे समय तक केवल पुरुष ही अपने बाल कटवा सकते थे। महिलाओं से लम्बी चोटियाँ रखने की अपेक्षा की जाती थी। सामाजिक अनुक्रम में ऊँची समझी जाने वाली जातियों में विधवा स्त्रियों को सिर मुँडाने के लिए मजबूर किया जाता था क्योंकि बालों को दम्भ का प्रतीक माना जाता था। पुरुष अच्छा दिखने के लिए अपने बाल छोटे रखते थे, और इसमें सहूलियत भी थी क्योंकि लम्बे बालों की देखरेख करने में बहुत समय और ऊर्जा लगती है। पर महिलाओं को यह विकल्प सुलभ नहीं था। महिलाओं को नाई का काम करने की इजाज़त भी नहीं थी। आधुनिक दुनिया में महिलाओं ने छोटे बाल रखने का महत्व समझ लिया है। आज कई महिलाएँ नियमित रूप से बाल कटवाती हैं। बल्कि कई महिलाएँ तो बाल काटने के व्यवसाय में प्रमुख भूमिका भी निभाने लगी हैं। कस्बों और शहरों में स्थित सैलून और पार्लर इस बात के गवाह हैं।

क्या आप जानते हैं?

"बार्बर" शब्द लैटिन के "बार्बा" से निकला है जिसका अर्थ है — दाढ़ी। जैसे-जैसे हजामत कराने का चलन दुनिया भर में फैला, दाढ़ी न बनवाने वाले समाजों के पुरुषों को "बार्बेरियन्स" (बर्बर) कहा जाने लगा जिसका अर्थ होता है "अनबार्बड" यानि "जिसकी दाढ़ी न बनी हो"।

प्रारम्भिक परिचारिकाएँ (नर्सें)

नाई समुदाय की महिलाओं ने गाँवों में प्रसव करवाने की ज़िम्मेदारी निभाई है। उत्तर भारत में वे "दाई" कहलाती हैं और आज की प्रशिक्षित परिचारिकाओं (नर्सों) का पारम्परिक रूप हैं। वे प्रसूति-विशेषज्ञ का काम करते हुए प्रसव में महिलाओं की मदद करती हैं। आज भी भारत में 50 प्रतिशत से ज़्यादा प्रसूतियाँ इन अति-कुशल ग्रामीण दाइयों द्वारा कराई जाती हैं। भारत के कई क्षेत्रों में दलित महिलाएँ भी प्रसव सम्बन्धी काम करती हैं। मध्य उत्तर प्रदेश के चमार इसका उदाहरण हैं।

दाइयाँ गर्भवती और स्तनपान कराने वाली माताओं की मालिश करके उनके शरीर को स्वस्थ रखने में भी मदद करती हैं। नाई समुदाय की महिलाओं द्वारा की जाने वाली सेवा-सुश्रुसा और उनके अनौपचारिक चिकित्सकीय कौशल, विशेषकर गर्भावस्था के दौरान उनके द्वारा की जाने वाली देखभाल की महत्ता को आज कई चिकित्सक भी स्वीकार करते हैं। नाई समुदाय की महिलाएँ कोख में उलटे शिशुओं (प्रसव के दौरान जिनके पैर पहले सामने आते हैं) को सीधा करने में कामयाब रही हैं। वे सामान्य प्रसूति कराने में महिलाओं की मदद करती हैं। गाने गाकर, गुनगुनाकर, जपकर और अपने साथ साँस लेने के व्यायाम करवाकर, वे जन्म देने वाली माताओं का दर्द बाँट लेती हैं। वे जन्म दे रही माताओं को शारीरिक सहारा देती हैं। वे प्रसव के दौरान सही शारीरिक मुद्रा के विषय में सुझाव भी देती हैं और सुरक्षित रूप से शिशु का प्रसव कराने में मदद करती हैं।

फिर क्यों नाई एक गरीब, अशिक्षित और पिछड़ा समुदाय बने रहे? कुछ धर्मग्रन्थों के अनुसार चूँकि नाई बाल काटते हैं अतः उन्हें सम्मान के अयोग्य माना जाना चाहिए। चूँकि नाइयों ने शल्यक्रियाएँ भी कीं, अतः स्वाभाविक तौर पर उन्हें बीमारियों से ग्रस्त मानव शरीरों के सम्पर्क में आना पड़ा। इसलिए उन्हें "प्रदूषित" माना गया। इस तरह के विचारों के परिणामस्वरूप इस समुदाय को सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में निन्दा झेलनी पड़ी। इस समुदाय के साथ, जिसका समाज के हर वर्ग और समूह की सेवा करने का इतिहास रहा है, सम्मानपूर्वक बर्ताव किया जाना चाहिए। यदि इस आधुनिक दुनिया में हम उन्हें चिकित्सक, शल्य-चिकित्सक, कलाकार, वकील या सूचना प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ नहीं बनने देते, तो नुकसान हमारा ही होगा। इसके साथ ही सभी को केशविन्यासक – जैसा कि नाइयों को आजकल जाना जाने लगा है – बनने की आकांक्षा करनी चाहिए।

कुशल दाइयाँ

दाइयाँ, प्रसव का समय पास आने का पता एक रोचक तरीके से लगाती हैं। बिहार और तमिलनाडु की दाइयों के अनुसार माँ की नाभि पर तेल उड़ेला जाता है और उसके बहाव का अवलोकन किया जाता है। यदि तेल बिना रुके नीचे बहता है तो इसका अर्थ है कि बच्चे का जन्म जल्द ही होने वाला है। दाइयों द्वारा प्रसव के दौरान रखवाई जाने वाली शारीरिक मुद्रा में और आधुनिक अस्पतालों में प्रायः रखवाई जाने वाली "लीथोटॉमी" मुद्रा (सहारों पर पाँव ऊँचे रखकर लेटना) में आमूल अन्तर है। दाइयाँ घुटनों के बल बैठने की मुद्रा को आदर्श मानती हैं, जिसमें माँ के लिए पूरी शक्ति लगाना और बच्चे को जन्म देना आसान हो जाता है। दाइयों के अनुसार लीथोटॉमी की मुद्रा भ्रूण को माँ की छाती की ओर ले आती है जिससे संकुचन शुरू होने पर माँ के लिए बच्चे को जन्म देना कठिन हो जाता है। वास्तव में लीथोटॉमी मुद्रा को माँ की बजाय जन्म कराने वाले चिकित्सक की सुविधा के लिए अपनाया जाता है। जब माँ निढाल हो जाती है तो दाइयाँ उसे घुटनों को ऊपर उठाए हुए लेटी स्थिति में रखती हैं। इस मुद्रा में संकुचन शुरू होने पर माँ को अपनी जंघाओं को पकड़े रखना पड़ता है और उसके सिर व पीठ को उठाकर सहारा दिया जाता है। यहाँ भी मुख्य विचार यही है कि माँ द्वारा ताकत लगाने और बच्चे को जन्म देने की प्रक्रिया को आसान और प्रभावी बनाया जाए।

डॉ. समता पोट्टु, *द हिन्दु*, 8 अक्तूबर 2000

प्राचीन भारत में चिकित्सकों की स्थिति

हमारे प्रारम्भिक इतिहास में चिकित्सकों का दर्जा क्या था? छठी और पाँचवीं सदी ई.पू. में रचे गए धर्मशास्त्रों के विधिक साहित्य में चिकित्सकों को अपवित्र घोषित कर दिया गया था। ऐसा माना गया कि उनकी उपस्थिति मात्र से कोई स्थान दूषित हो जाता है; उनसे लिया गया या उनको दिया गया भोजन अपवित्र माना जाता था और उनको बलि चढ़ाने के लिए होने वाले अनुष्ठानों में आमंत्रित नहीं किया जाता था। सामाजिक दर्जे में उन्हें शिकारियों और अन्य "नीच व्यवसायों" में शामिल लोगों के समान ही माना जाता था। ये विचार "अपस्थन्ब धर्मसूत्र" (1.6.19), "गौतम धर्मसूत्र" (xvii.7) और "वशिष्ठ धर्मसूत्र" (xiv.110,19) में दर्ज किए गए थे। चूँकि रोगों का उपचार करना सम्मान के योग्य नहीं माना गया, इसलिए यह निर्देश दिया गया कि चिकित्सकीय पेशा "अम्बस्थ" जाति के लोगों तक ही सीमित रहना चाहिए, जैसा कि *मनुस्मृति* (x.4647) में कहा गया है। "कुलीन वर्गों में जन्मे" व्यक्तियों के लिए चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना निषिद्ध था। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* (300 ई.पू. के आसपास रचित) में एक अध्याय मौर्य सम्राट द्वारा अपने कर्मचारियों को दिए जाने वाले वेतन से सम्बन्धित है। सबसे अधिक वेतन 64000 पण था, जो राजमाता, मुख्यमंत्री, सेनापति और सम्राट के पुरोहित को देय था। अगला वेतनमान, जो विशिष्ट सरकारी कर्मचारियों के लिए था, पहले स्तर का आधा अर्थात् 32000 पण रखा गया। इस घटते हुए पैमाने पर चिकित्सक का वेतनमान, पानी ढोने वालों और घोड़ों की देखभाल करने वालों के समकक्ष, 4 पण निर्धारित किया गया था। इस तरह चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति में भारी बाधाएँ खड़ी की गईं।

पी. एस. चारी, अध्यक्ष, प्लास्टिक सर्जरी विभाग, स्नात्कोत्तर चिकित्सा शिक्षण और अनुसन्धान संस्थान, चण्डीगढ़, के *इंडियन जर्नल ऑफ प्लास्टिक सर्जरी,* 2003, 36:413 में छपे लेख "सुश्रुत एण्ड अवर हैरिटेज से"

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नाइयों को अलग-अलग जातीय नामों से जाना जाता है। तेलुगु भाषी क्षेत्रों में उन्हें मंगाली कहा जाता है; तमिलनाडु में वे नाविदन कहलाते हैं। अधिकांश हिन्दी भाषी क्षेत्रों में उन्हें नाई, या फिर उस्ताद और हज्जाम भी कहा जाता है। नाइयों का संगीत से भी जुड़ाव देखा गया है। वे नादस्वरम् और शहनाई बजाने के लिए जाने जाते हैं। सारंगी के प्रसिद्ध वादक यू. श्रीनिवास और मृदंग के उस्ताद येल्ला वेंकटेश्वर राव मंगाली समुदाय के ही हैं।